Chap-5

अध्याय - पंचम :
समकालीन संदर्भ
और
प्रेमचंद

क- बाजारवाद, पूँजीवाद और उपभोक्तावाद

ख- निजीकरण और निजीकरण, भूमण्डलीकरण

ग- उत्तर उपनिवेश की राजनीति

बाज़ारवाद

बिल्ली बख्शे, मुर्गा लड्रा ही रहेगा। जिनके पास न खाने को अन्न है और न पहनने को वस्त्र, वह ब्राडकास्टिंग सुनकर अपना मनोरंजन न करेंगे तो कौन करेगा? व्यापार चलाने की कितनी बढ़िया नीति है। यह व्यापारी मानवी प्रकृति की दुर्बलताओं को खूब समझते हैं और खूब अपना मतलब गाँठते हैं। मनोविज्ञान उनकी व्यवसाय-बुद्धि का मुख्य साधन है। कल्लोंच से कल्लोंच आदमी में भी आमोद-विनोद की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवसायी उसी स्थल पर अपना निशाना लगाता है और शिकार मार लेता है।[1]

प्रेमचंद के साहित्य में हमें बाजारवाद के भी दर्शन मिलते हैं। उन्होंने अपने कहानियों, उपन्यासों में बाज़ारवाद के भी जिक्र बखूबी किया है। संपूर्ण विश्व ही आज बाजारवाद की चपेट में हैं। उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण इस बाजारवाद के तीन साधन हैं। ये तीनों ही साधन अपनी बनक में किसी त्रिकोणीय सूत्र से कम नहीं हैं। इनके सभी सूत्र एक जैसे नहीं हैं, ये सूत्र अलग-अलग और भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि ये वापस लौटकर फिर से एक ही नाभिनाल से प्राणरस पाते हैं।

बाजार व्यापार के लिए स्थान और अनिवार्य संसाधन प्रदान करता है। इस तरह से बाजार व्यापार का आधार होता है। व्यापार में बाजार का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान सदैव से ही रहा है। इस महत्त्वपूर्ण भूमिका के निष्पादन के लिए बाजार अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति धन को गत्यात्मकता से जोड़ने के विभिन्न

तरीकों के रूप में करता है। आधुनिकता के साथ ही साथ राष्ट्रवाद का भी विकास हुआ है और ऐसे में ही बाजार के साथ राष्ट्र का भी प्रसंग जुड़ा। अगर हम इतिहास की तरफ दृष्टि डालते हैं तो हम यह पाते है कि मध्यकाल तक अर्थात् आधुनिक राष्ट्रों के संघटन और राष्ट्रवाद के उदय के पहले राज्य में भौगोलिक प्रसार की आंतरिक आकांक्षा ही अधिक बलवती थी। आधुनिक राष्ट्रों के संघटन और राष्ट्रवाद के उदय के बाद राज्य की भौगोलिक प्रसार की आंतरिक आकांक्षा में एक तरह का निम्नमुखी बदलाव आया। इस परिवर्तन के साथ-ही-साथ राज्य की भौगोलिक प्रसार की आकांक्षा को व्यापारिक प्रसार की आकांक्षा ने विस्थापित करना शुरु कर दिया। बहुत ज्यादा विस्तार में गए बिना भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी की मूल आकांक्षा राज्य पर कब्जा करने की नहीं थी। वह तो व्यापार पर ही कब्जा करना चाहती थी। चूँकि उस समय की स्थानीय राज्य शक्तियाँ इसमें बाधाएँ खड़ी कर रही थीं, इसलिए राज्य के द्वारा खड़ी की जाने वाली बाधाओं को सम्भावित न्यूनतम स्तर पर ले जाने के लिए उसने राज्य पर भी कब्जा जमाने को जरूरी मानकर अपनी नीतियाँ तय कीं। 1857 में ब्रिटिश राज कायम हो जाने के बाद ईस्ट इण्डिया कंपनी का मनचाही सहूलियतें मिलती रहीं। उसके संतोष और निर्विघ्न कारोबार के लिए उतना काफी था। भारत की भी असल परेशानी धन को ही लेकर थी। ब्रिटिश राज के कारण बहुत सारे दुःख तो और भी थे ही। भारतेन्दु हरिश्चंद्र जैसे साहित्यकार इस दुःख को समझते भी थे। लेकिन भारतेन्दु हरिश्चंद्र अपने दुःख को सब धन विदेश चले जाने से जोड़कर ही अभिव्यक्त करते हैं। यह बात बताने की आवश्यकता नहीं है कि धन का भी अपना एक अस्तित्व और इसीलिए राष्ट्रीय चरित्र भी रहा है। सभ्यता और संस्कृति से व्यापार और बाजार का गहरा संबंध है। व्यापार अपने साथ एक बाजार से दूसरे बाजार में सिर्फ माल ही नहीं माहौल भी ले जाता है। अपने साथ संदेश और संस्कृति भी ले जाता है। माल के साथ विचार-आचार और मन भी ले जाता है। प्रतिपूरण का सामाजिक माहौल बनाता है।

बाजार में बदलाव की अद्भुत क्षमता होती है। समाज के विकास के विभिन्न चरणों में आए बदलाव के साथ बाजार अपने को बदलता रहा है। कुछ लोगों की धारणा ठीक इसके विपरीत है। इस धारणा के लोग यह मानते हैं कि बाजार में आए बदलाव को ही विकास कहा जाता है।[2] इस तरह के लोगों की

धारणा होती है कि समाज विकास के साथ बाजार बदलता नहीं है। बल्कि मानते हैं कि बाजार में आए बदलाव को ही समाज विकास कहते हैं। लोगों की नजर में कुल मिलाकर यह मामला सामने आता है कि बाजार के परिवर्तन के अनुसार ही समाज भी बदलता है। अर्थात् मुख्य शक्ति बाजार है, समाज नहीं। ऐसे समय में ऐसे लोगों का विश्वास समाजवाद के विपरीत और अवरोधक के रूप में बाजारवाद पर होता है। बहुत ही मोटे-तौर पर कहा जा सकता है कि सभ्यता या संस्कृति या यूँ कहिए जीवन-समग्र का मुख्य संचालक निकाय बाजार को मानना - बाजारवाद है और जीवन-समग्र का मुख्य संचालक निकाय समाज को मानना समाजवाद है। जीवन में समाज और बाजार दोनों में से किसी एक के भी निषेध के लिए कोई जगह नहीं होती है। लेकिन हम इस बात से भी इनकार नहीं कर सकते कि इनमें किसी एक के मौलिक और प्राथमिक तत्त्व होने को लेकर जीवन-संघर्ष अवश्य है। जीवन-संघर्ष से विछिन्न बाजारवाद के संघर्ष के एक मनोभाव को हम देख सकते हैं।

प्रेमचंद अपने लेखन में यह बताने का प्रयास किया है कि बाजारवाद और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और प्रभावित भी होते हैं। जितनी अधिक से अधिक दूर तक हम प्रभावित करते हैं और होते हैं उतनी ही दूर तक हम अलग नहीं होते हैं। बल्कि एक के दो किनारे होते हैं। हम यह मानते हैं कि जिस प्रकार से प्रकाश और अंधकार एक दूसरे के विपरीत होकर भी एक ही पहलू के दो किनारे हैं। तभी तो एक बढ़ता है तो दूसरा घटता जाता है। दो ध्रुवों का संबंध भी एक दूसरे से न तो अलगाव का होता हैं और न ही निषेध का। समस्या वहाँ पर उत्पन्न होती है जहाँ पर हम दोनों में से किसी एक ध्रुवांत पर खड़े होकर दूसरे ध्रुवांत के अस्तित्व को नकारते हैं या उसका त्याग करते हैं। यह मान लिया जाना चाहिए कि दोनों ही ध्रुवांत एक ही समग्र जीवन के दो छोर होते हैं। इस प्रकार से देखने पर यह कह सकते हैं कि जीवन संपूर्णता के दो ध्रुव हैं - बाजारवाद और समाजवाद। आज वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दुनिया को एक ही ध्रुवीय बनाने का निहितार्थ है बाजारवाद का पूर्ण वर्चस्व और समाजवाद का पूर्ण निर्वसन। बाजारवाद और समाजवाद के संघर्ष की इसी रणभूमि की जटिलताओं और भौगोलिकताओं को समझना बहुत ही जरूरी है। मूल रूप से प्रश्न यह उठा है कि समाज के अनुसार बाजार को बदलना चाहिए या बाजार के अनुसार समाज को? इस मूल प्रश्न का

जवाब बाजारवाद के पैरोकारों और समाजवाद के समथकों के पास न सिर्फ अलग-अलग है बल्कि एक का जवाब दूसरे के जवाब से सीधे टकराता है।

बाजार से गुजरते हुए / बराबर कचोट होती है
जो चीज वहाँ / नहीं, होनी चाहिए
वह चीज / वहीं होती है
बाजार से होकर / आने के बाद
कितनी खाली-खाली / नजर आती है
किराए की छोटी-सी कोठरी
जैसे काम की चीज का
अकाल ही पड़ गया हो
या यों कि
गत्तों के बीच से संविधान की मूल प्रति ही
गायब हो गई है
उपमाएँ और भी हो सकती हैं
आप भी
सोचिए न ।[3]

यह कविता बहुत ही साधारण और अनसुनी-सी है। जब बाजारवाद के हाथों किसी अन्य के हाथ सौंपने की बात आती है।

बाजारवाद का सामाजिक विकास में महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। बाजारवाद के वर्तमान माहौल में व्यापार के महत्त्व को ठीक से समझा जाना एक सामाजिक जरूरत है। यह जरूरत उन लोगों के लिए उतना ही है जो बाजारवाद का विद्रोह करते हैं और उन लोगों के लिए भी है जो इसका खुलकर समर्थन करते हैं।

इस क्रम में व्यापार, बाजार और बाजारवाद के अन्तःसंबंधों और उनके साथ समाजवाद के संबंधों को भी परखते रहने की जरूरत है।

यह जरूर ध्यान देने की बात है कि किसी भी संस्था का प्रारम्भ मनुष्य की भौतिक जरूरत के दबाव से ही होता है। इस बदलते हुए स्वरूप के साथ संस्थाओं का स्वरूप भी बदलता है। जिस संस्था में बदलाव की जितनी अधिक आंतरिक शक्ति होती है, वह संस्था उतने ही अधिक समय तक मनुष्य की सोच प्रभावी ढ़ग से करती रहती है। जिस प्रकार किसी भी संस्था में बदलाव की आंतरिक शक्ति होती है, इसी प्रकार उसमें एक प्रकार की बदलाव विरोधी जड़ता भी होती है। इसलिए इस आंतरिक जड़ता के कारण एक समय ऐसा भी आता है, जब कोई संस्था किसी भी नए बदलाव को अपने अन्दर सहयोजित करनें में कामयाब नहीं हो पाती है। व्यापार की सामाजिकता को ध्यान में रखें तो यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि व्यापार नाम की संस्था में आत्म-परिवर्तन की अद्‌भुत आंतरिक शक्ति सक्रिय रही है। इतनी गत्यात्मकता शायद ही किसी अन्य संस्था में हो। व्यापार का निकट सबंध विनिमय से होता है। कहा जा सकता है कि यह विनिमय ही व्यापार का प्राण होता है। विनिमय का अर्थ ही होता है कि एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का लेना अर्थात् लेन-देन।

प्रेमचंद जी कहते हैं कि लेन-देन पर ही तो संपूर्ण विश्व ही टिका हुआ है। वस्तु-विनिमय ही नहीं समाज में सामाजिक चलन, ज्ञान-विज्ञान, श्रम, संस्कृति तक़नीकि, विचार और भाव विनिमय का प्रसंग उतना ही कारगर और जरूरी होता है। व्यापार का यही विनिमयशील स्वभाव मनुष्य को व्यापकता से जोड़ता है। हम वस्तुवादी दृष्टि से देखते पर यह सहज ही लक्षित कर सकते हैं कि वस्तु-विनिमय ही मूल विनिमय है। अन्य विनिमय इस मूल विनिमय की अंतर्वर्ती-प्रक्रिया है। इस विनिमय के लिए चाहिए सुमति। सुमति न हो तो विनिमय संगत और सार्थक नहीं हो सकता है। तुलसीदास जी ने सुमति को संपत्ति से जोड़कर देखा था। जिस प्रकार सुमति का अर्थ बहुत व्यापक होता है, उसी प्रकार से संपत्ति का अर्थ भी बहुत व्यापक होता है। लेकिन इनके उतने अर्थ-विस्तार में गए बिना भी हम मान सकते हैं कि संपत्ति के चाक्षुष रूप को धन कहा जाता है। धन वस्तु में अंतर्निहित मूल्य होता है। इन मूल्यों का ही बिनिमय सुलभ प्रतीकीकृत रूप पैसा होता है।

पूँजीवाद

प्रथम महायुद्ध-काल और युद्धोत्तर-काल में भारत के व्यवासियों को पूँजी खड़ी कर धनी बनने का अवसर मिला था। देशी उद्योग-धंधे के नाम पर वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में ब्रिटिश पूँजीपतियों के खिलाफ खड़े होकर और अधिक पैसा बनाने की चाहत में देश के इन धनिक-वर्ग के हृदय में उत्पन्न हो चुकी थी। कुटीर-आंदोलन से उनको संतोष नहीं हो सकता था। रंगभूमि के जानसेवक के रूप में इस प्रवृत्ति को प्रेमचंद ने पहचाना था।

प्रेमचंद ने यह देखा था कि दुनिया में महाजनों ने अपना राज्य कायम कर लिया है। मनुष्य-समाज दो वर्गो में विभक्त हो चुका था - बड़ा हिस्सा मरने और खपने वालों का दूसरा उसके तुलना में बहुत ही लघु है, लेकिन वह अपनी शक्ति और प्रभाव से दूसरों को अपने में नाथे हुए है। बड़े वर्ग के जीवन की चरितार्थता इसी में है कि वह समाज में थोड़े से लोगों के लिए पसीना बहाए खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से चल दे।[4] स्पष्ट है कि प्रेमचंद संसार में दो ही वर्गो की कल्पना इस क्रम में किया करते थे - शोषक और शोषित।

प्रेमचंद जी को इस बात का कष्ट था कि शासक वर्ग के विचार और सिद्धांत-शासित वर्ग के भीतर भी समा गए हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि हर इंसान आज अपना ही घर भरने की चिंता में दुखी होता जा रहा है। हर आदमी अपने को समाज से अलग निकाल कर शोषण कर रहा है।[5] इस प्रकार जो मुसीबत में पड़े हुए हैं, लुट रहे हैं और शायद मिट भी रहे हैं भी मौका देखकर किसी दूसरे गरीब का खून चूस लेते हैं। पूँजीवाद का यह व्यापक प्रसार सचमुच एक बड़ा खतरा है।

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं शताव्दी में ही शुरू हो गई थी। भारत में शोषण का नया काल 1813 से ही औद्योगिक पूँजीवाद के द्वारा आरम्भ हो चुका था जब व्यापारियों तथा कारखानेदारों का हमला पूरी तरह से कामयाब हो गया था तथा भारतीय व्यापार पर ईस्ट-इण्डिया कंपनी का एकाधिकार पूरी तरीके से समाप्त कर दिया गया। किन्तु इसका स्पष्ट संकेत 1833 में मिला जब अँग्रेजों

को भारत में जमीन खरीद कर बागानों के मालिकों के रूप में बसने की इजाजत दी गई ताकि अधिकाधिक माल बाहर भेजा जा सके। देश की अर्थव्यवस्था के सभी आवश्यक स्थानों पर ब्रिटिश पूँजी का दबदबा था।[6]

प्रेमचंद के कथा साहित्य में पूँजीवाद से जुड़े हुए हर मुद्दे पर बात सामने प्रकाश में आती है कि किस तरह से निरीह भोले-भाले किसान सदियों से पिसते चले आ रहे हैं। उनके लिए जो नियम कानून बानएं गए हैं वह उन्हीं पर ही खरा उतरना चाहते हैं। उनके लिए जमींदार, पटवारी, लाला, बनिया सभी उनको नोचने में लगे हुए है। उनको बस अपने घर भरने से ही मतलब है। किसान एक बार कर्ज ले लिया तो जीवन भर वह ऋण के बोझ से ही दबा रहता है। वह अपने खिलाफ हो रहे अत्याचार के खिलाफ विद्रोह भी नहीं कर सकता, उसे डर है कि कहीं उससे वह सभी चीज़े न छीन ली जाए जो उसे मिलती आ रही है।

सामाजिक धरातल पर नीचे से ऊपरी तक एक नए वर्ग का उद्भव हुआ। उच्च आसन पर भूस्वामी, बिचौलिए, महाजन तथा निम्न ओहदे पर मर्जी के काश्तकार और खेत में कमर तोड़ काम करने वाले मजदूर पैदा हुए। यह आकार उपनिवेशवादी अद्र्धसामंती और अद्र्ध-उपनिवेशिक दिया गया। भारत से अधिक से अधिक कच्चा माल का उत्पादन कर बाहर निर्यात किया जाने लगा। देश कंगाली की स्थिति में पहुँच गया।

भारत के गाँव और शहर लघु उद्योगों (हस्तशिल्प) के पतन हो जाने के बाद भारतीयों की पूँजी को बहुत ही बड़ा झटका लगा क्योंकि भारत के हाथ से एशिया और यूरोप के बाजार नहीं निकले थे, बल्कि भारतीय बाजार भी विदेशी मशीनों व सस्ते मालों से भरा हुआ था।

स्वदेशी आंदोलन भारतीय पूँजी-संवर्धन के उद्देश्य से शुरू किया गया था। 1867 में बंगाल में हिन्दू राष्ट्रीय मेले के द्वारा स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात हुआ। फिर औद्योगिक संघ बने व सम्मेलन किए गए। कई जगह औद्योगिक प्रदर्शनियाँ लगाई गई। स्वदेशी आंदोलन से भारतीय पूँजीपतियों को लाभ हुआ और वे कुछ बड़े उद्योग धन्धों के विकास में सफल होने लगे। इस तरह भारतीय पूँजी भारत में ही इकट्ठी होने लगी किन्तु भारतीय जनता को इससे कुछ लाभ न हुआ और उसका पूर्ववत् शोषण जारी रहा।[7]

1857 के युद्धोपरान्त भारतीय पूँजीपतियों के पास पूँजी इकट्ठी हो गई थी। अतः भारतीय औद्योगीकरण की माँग बढ़ने लगी। अंग्रेजों ने नई चाल चली और भारतीय पूँजीपतियों से समझौता करके साझे में व्यवसाय करने की बात चलाई।[6] किन्तु इस समझौते से न तो औद्योगीकरण का ही विकास हो सकता न तो पूँजी की निकासी रोकी जा सकी।

प्रेमचंद जी के कहने का आशय यह है कि भारत के पूँजीपति वर्ग का विकास तो प्रगति पर है ही दिनोंदिन पूँजीपति वर्ग अपने व्यवसाय का विस्तार ही करेंगे। लेकिन 1858 के बाद पूजीपतियों की गति अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के कारण बहुत ही धीमी हो गई थी। हमारा देश जो सदियों से ही कृषि-प्रधान देश रहा है, उसका भी बड़े पैमाने पर कृषि और उद्योग का शोषण निरंतर होता ही रहा है और भारतीय पूँजी ब्रिटेन की ओर पानी के तरीके से बहाया जा रहा था। भारत गरीबी और असहाय की जिन्दगी जीने को मजबूर हो गया। यहाँ तक कि भारत गरीब और असहाय होकर भुखमरी का शिकार दिन-प्रतिदिन होता रहा और कर्ज का दानव सामाजिक सुख-शांति को भंग कर रहा था। औद्योगिक क्रांति के बाद जैसा कि प्रायः होता है भारत में भी आंदोलन होने शुरू हो गए थे।

बंबई और गुजरात में पूँजीवाद के विकास एवं बंगाल में इसके लगभग अभाव के बीच स्पष्ट लक्षित होने वाली विषमता का कारण यह बताया जाता रहा है कि बंगाली भद्रलोक में व्यापार और उद्योग के प्रति सहज अरुचि थी और यह भी कि स्थाई बंदोबस्त के कारण बंगाल में देशी पूँजी का आकर्षण भूमि की ओर ही अधिक रहता था। किन्तु 1840 के दशक तक उच्च वर्ग के बंगाली पर्याप्त संख्या में व्यापार में जुड़ गए थे, जबकि पूरी उन्नीसवीं सदी के दौरान बंगाली पत्र-पत्रिकाएँ बारंबार अपने पाठकों को स्वतंत्र उद्यम के लाभ बताती रही थीं। यह भी कहा जाता है कि व्यापार में पारसियों की सफलता का रहस्य उनमें ऐसी किसी विशेषता का होना था जो 'प्रोटेस्टेंट नैतिकता' के काफी निकट है; किन्तु व्यापार में पारसियों जितने या उनसे भी अधिक सफल गुजराती या मारवाड़ी बनिएँ में आधुनिकतावादी सांस्कृतिक मूल्य शायद ही पाए जाते हों, जबकि आर्थिक उद्यम के क्षेत्र में बंगाली ब्रह्मसमाजियों के आधुनिकता सहायक सिद्ध नहीं हुई।

जहाँ तक भूमि संबंधों का प्रश्न है, हम पहले ही देख चुके है कि जमींदारों एवं रैयतवारी पद्धतियों का प्रभाव अन्ततः बहुत भिन्न नहीं था। भूमि के बाजार से संबंधित हालिया शोध इस पारंपरिक धारणा को संदिग्ध ठहरातें है कि स्थायी बंदोबस्त ने तुरन्त ही शहरी पूँजी को भूमि की ओर खींचना आरम्भ कर दिया था। कुल मिलाकर, जैसा कि अमिय बागची का कथन है, इसकी सरल व्याख्या यहीं हो सकती है कि अर्थव्यवस्था पर विदेशी साम्राज्यवादी प्रभुत्व अलग-अलग मात्राओं में स्थापित था।[8]

निजीकरण और उदारीकरण

निजीकरण दो शब्दों के मेल से बना हैं - निजी+करण यानि अपना बना लेना। किसी भी वस्तु, व्यक्ति या स्थान को अपना बना लेना ही निजीकरण कहलाता है। अपना बना लेने का पाठ हमें सदियों से हमारे पूर्वज पढ़ाते आ रहे हैं - 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'। परन्तु हमारे यहाँ सांस्कृतिक अध्याय में हर किसी को अपने समान समझने का भाव हमेशा से ही अंतर्निहित रहा है। परन्तु 'निजीकरण' का संदर्भ उससे बिल्कुल ही अलग-थलग है। यहाँ पर अपनाने का अर्थ व्यक्ति के स्वामित्व की सीमा के क्षेत्र का अधिक-से-अधिक फैलाना। स्वामित्व का विस्तार अधिकारिता का विस्तार होता है।

प्रेमचंद जी के साहित्य में खासकर कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से यह चित्र उन्होंने उकेरा है कि जिसके पास ताकत है, पैसा है उसी के पास किसी की भी वस्तु को जबरन हड़प लेने की भी ताकत होती है। पैसे के बल पर इंसान कुछ भी किसी मजबूर व्यक्ति का जमीन या जोरू को हड़प लेता था।

कहना न होगा कि किसी एक व्यक्ति की अधिकारिता का विस्तार किसी-न-किसी अर्थ में कई व्यक्तियों की अधिकारिता के स्वत्वहरण से ही संभव होता है। राष्ट्र-राज्यों के स्वरूप पर गौर करने से यह बात पानी की तरह साफ दिखेगी कि अधिकारिता अपने मौलिक रूप में राष्ट्र-राज्य में ही न्यस्त रहती है। इसीलिए, आश्चर्य नहीं कि 'निजीकरण' मूलतः 'राष्ट्रीयकरण' या एक भिन्न अर्थ में 'समाजीकरण' का विलोम-रचना है। आधुनिक राष्ट्रों के उदय के साथ ही जनतंत्र का भी उदय हुआ। राष्ट्रबोध अनिवार्यतः एक भौगोलिक सीमा के अंदर एक वृहत्तर 'हम' का संघटन करता है। उस भौगोलिक सीमा के बाहर हर 'वह' एक अर्थ में 'अन्य' ठहरता है। 'हम' और 'अन्य' के संघटन में कट्टरता के थोड़े बहुत लक्षण तो होते ही हैं। कहना न होगा कि कट्टरता ही हमें अंधत्व का शिकार बनाती हैं। कट्टरता से उदारता लड़ सकती है।[9]

'बाजारवाद' के 'उदारीकरण' की प्रक्रियाएँ उदारता से उस शक्ति को भी समाप्त करने पर तुले हुए हैं। इस निजीकरण से राष्ट्रवाद का निपटारा किया जा

सकता है। इस राष्ट्रवाद से निपटने के लिए कहीं-न-कहीं निजीकरण की ओट में छिपकर कट्टरता भी अपनी जड़ें अंदर तक जमा सकती है। कट्टरता के समागम से अंधत्व के आने में बिल्कुल भी देरी न लगेगी। इसके लिए तो इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार से पूरी सभ्यता अंधराष्ट्रवाद के आत्मघाती शिकंजे में आते-आते बची है। इस अंधेपन से बचने के लिए आत्महनन के रास्ते पर चलना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती है। अंधेपन के समाविष्ट हो जाने के डर से राष्ट्र की अवधारणा के ही पूर्णतया त्याग करने के प्रस्ताव में छल है। इस छल प्रपंच को पहचानकर हमें इनसे बचना ही होगा। इस छलावे के कारण ही 'राष्ट्रीयकरण' के विलोम के रूप में 'निजीकरण' अधिक आकर्षित करता है। इस निजीकरण के लिए उदारीकरण शब्द ज्यादा उपयोगी लगता है। इसकी उपयोगिता यह है कि राजनीतिक राज्यों को नैसर्गिक राज्यों में परिवर्तन करने के लिए संपूर्ण विश्व के अंदर इतिहास, धर्म, भूगोल, विचार, संस्कृति और मानवीय मूल्यों के निरपेक्ष पूँजी सापेक्ष नैसर्गिक विश्वबोध विकसित हो सके। जनतंत्र इसे एक मत के अधिकार से अभिव्यक्ति करता है।

समानता की बात प्रेमचंद जी ने अपने कहानियों और अन्य उपन्यासों में भी की है। जो किसी-किसी को ही हासिल हो पाती है। समानता मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, इसे बाजारवाद अच्छी तरीके से जानता है। बाजारवाद अपनी दुनिया में अन्तर्निहित विषमता के सभी तत्वों से भलीभाँति परिचित है। बहुत ही स्वाभाविक स्तर की बात है कि बाजारवाद जनतंत्र की समताकांक्षी प्रवृत्ति से अपने आवश्यक टकराव को जानता है। इसलिए बाजारवाद प्रथम रूप से जनतंत्र को बिना मतलब के एहसासों से जोड़ने का प्रयास करता है। इसके साथ ही जनतंत्र को सुसंगठित और विस्तृत फलक के राजनैतिक राष्ट्र से अलग करके असंगठित और लघु फलक के सामुदायिक ज्ञान से जोड़ना चाहता है। आज विश्व के अधिकांश भागों में सामुदायिक विकास के पाठ की तैयारी की जा रही है। इस सामुदायिक विकास के लिए किए जाने वाले सामाजिक आंदोलनों को 'बाजारवाद' मूलतः राजनैतिक आंदोलनों के बिखराव के रूप में उपयोगी माना जा रहा है। जब हम शांत मन और बुद्धि से विचार करते हैं तो हमें समझ में आता है कि सामुदायिक चेतना की वैधता का उपयोग करने में गैर सरकारी संगठनों की भूमिका को 'बाजारवाद' किस नजर से देख रहा है। राजनीतिक आंदोलनों का अंतिम उद्देश्य राष्ट्र के राज्यों को

सुसंगठित रखने के लिए नागरिकों की प्रत्यक्ष और प्रभावकारी भूमिका में दिनोंदिन बढ़ोत्तरी और राज्य-सत्ता में जनपक्षीय बदलाव तो होता ही है। सामुदायिक या सामाजिक आंदोलनों का सिंहभाग राष्ट्र के राज्यों को सुसंगठित और सुव्यवस्थित रखने के लिए और राज्य सत्ता में जनपक्षीय बदलाव की आकांक्षा से या तो पूरी तरीके से अलग रहता है या फिर उसे अपनी गतिविधियों में परिवर्तनकारी स्तर पर शामिल नहीं होने दिया जाता है। 'बाजारवाद' निजीकरण के माध्यम से 'एक के एक साथ' के नहीं बल्कि 'एक के ऊपर एक' के अस्तित्व की बात को शक्ति देता है।

1991 में सोवियत संघ में साम्यवाद के पतन के बाद सारे विश्व में उदारीकरण की जैसे लहर ही दौड़ गई। भारत विश्व की अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, अतः उसके लिए भी उदारीकरण की इस हवा से बचा रहना संभव ही नहीं बल्कि कहना न होगा कि वह असंभव था।

आर्थिक उदारीकरण का सीधा संबंध है, राज्य का बाजार के समक्ष समर्पण। दूसरे शब्दों में, इसका निहिताशय है राज्य द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था का बाज़ार द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था में रूपांतरण जिससे अर्थव्यवस्था में व्याप्त जड़ता को समाप्त किया जा सके। राज्य द्वारा आरोपित अनावश्यक बाधाओं को समाप्त कर ऐसा भी किया जा सकता है।

आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया की शुरूआत 1991 में उस समय हुई जब राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था अस्थिर, असंतुलित तथा जड़ हो गई थी तथा इसकी साख रसातल में धसती जा रही थी। उदारीकरण की यह प्रक्रिया सातवें-आठवें दशक में निर्मित लाइसेंस परमिट राज से बिल्कुल अलग है, इसका उद्देश्य है, भारतीय अर्थव्यवस्था पर लगे नियंत्रण को कम करना तथा सरकार को आर्थिक दायित्वों से मुक्त करना, ताकि वह सामाजिक क्षेत्र के लिए अतिरिक्त संसाधन जुटा सके, प्रभावशाली लक्ष्य को निर्धारित कर सके तथा उत्पादन क्षमता में वृद्धि भी कर सके।

आर्थिक सुधारों को तीन वर्गों में रखकर हमें समझने में आसानी होगी। यही वर्ग उदारीकरण के उद्देश्य भी है। पहला, अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान करना। इसका अर्थ हैं कि सभी माँग और पूर्ति के बीच संतुलन स्थापित करना

क्योंकि नवें दशक के दौरान इसमें वर्तमान असंतुलन ही बजटीय घाटा का कारण बना फलस्वरूप भुगतान असंतुलन पैदा हुआ।

दूसरा अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन, इसके अंतर्गत मुख्य रूप से औद्योगिक लाइसेंसिंग प्रणाली और नियमन को उदार बनाया है। बिजली उत्पादन, तेल की खोज और तेल शोधन के क्षेत्र में निजीक्षेत्र के निवेश की अनुमति देकर सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों का दायरा कम किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित 13 खनिजों को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया गया है।

औषधि निर्माता कंपनियों को औद्योगिक लाइसेंस और मूल्य नियंत्रण से छुटकारा दिला दिया गया। विदेशी दवा कंपनियों को भी इस बात की अनुमति प्रदान की गयी हैं, उन्हें शरण देने के लिए मिगा अर्थात् बहुराष्ट्रीय निवेश गारंटी एजेन्सी की स्थापना की गयी है। - माडवेट का व्यापक विस्तार पूँजीगत वस्तुएँ और पेट्रोलियम उत्पादों पर भी किया गया। उपर्युक्त सुधारों का मुख्य उद्देश्य आयात संबंधी नियमों को उदार बनाना था जिससे आयात-निर्यात के मध्य घनिष्ठ संबंध कायम किया जा सके।

तीसरा, अर्थव्यवस्था का अंतर्राष्ट्रीयकरण - इसके तहत उपभोक्ता सामान सहित सभी वस्तुओं की आयात की अनुमति प्रदान की गयी है। सीमा शुल्क में कमी की गई है। विदेशी पूँजी का मुक्त प्रवाह सेवा क्षेत्र विशेषकर बैकिंग, बीमा और जहाजरानी के लिए शुरुआत कर दिया गया। रुपए को चालू खाते पर पूर्ण रूप से परिवर्तन करने का नियम बनाया गया।

अस्तु त्रिविमीय सुधारों का अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली पर और उसकी भावी दिशा निर्धारित करने पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

उपभोक्तावाद

प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यास कायाकल्प में उपभोक्तावाद के दर्शन करा दिए थे कि आज के मनुष्य का ढाँचा कैसे लगातार परिवर्तित होता जा रहा है। आज के दौर में सामाजिक ढ़ाँचा पूर्णतया बदल रहा है। धीरे-धीरे युग एक नई जीवन-शैली अपनाकर अपने वर्चस्व को स्थापित कर रही है। उसके साथ-ही-साथ अब नया जीवन दर्शन आ रहा है और वह है-उपभोक्तावाद का दर्शन। समाज में चारों दिशाओं में उत्पादन को बढ़ाने की ही धूम मची है। यह उत्पादन पता है किसके लिए तैयार की जा रही है-आप सभी भोग करने के लिए; और सुख करने के लिए। वर्तमान समय में हमारे यहाँ की सुख की परिभाषा में भी बदलाव आए हैं-उपभोग भोग ही सुख है। एक मामूली सा परिवर्तन आया है नई स्थिति में। उत्पाद तो आप के लिए ही तैयार किया जाता है, पर सभी प्रायः यह भूल जाते है कि जाने-अनजाने आज के वातावरण में आप सभी का चरित्र भी बदल रहा है और आप सिर्फ उत्पाद के प्रति अपने-आपको समर्पित किए जा रहे हैं।

प्रेमचंद जी के कथा-साहित्य में कहीं-न-कहीं विलासिता का भी दर्शन कराया है। धनिक वर्ग अपनी विलासिता में मगरूर है। वही विलासिता उन्हें पतन के गर्त में ढकेल देती है। चाहकर भी मनुष्य उससे बाहर नहीं निकल पाता है। आज विलासिता की सामग्रियों से बाजार भरा पड़ा है जो आपको लुभाने की जी-तोड़ कोशिश में निरंतर लगी रहती हैं। दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को ही लीजिए। टूथ-पेस्ट चाहिए? यह दाँतों को मोती जैसा चमकीला बनाता है, यह मुँह की दुर्गंध हटाता है। यह मसूड़ों को मजबूत करता है और यह 'पूर्ण सुरक्षा' देता है। वह सब करके जो तीन-चार पेस्ट अलग-अलग करते हैं। किसी पेस्ट का 'मैजिक' फार्मूला हैं। कोई बबूल या नीम के गुणों से भरपूर है, कोई ऋषि-मुनियों द्वारा स्वीकृत तथा मान्य वनस्पति और खनिज तत्वों के मिश्रण से बना है। जो चाहे चुन लीजिए। सफ़ाई की क्षमता में अलग-अलग, एक से बढ़कर एक। मुँह की दुर्गंध से बचने के लिए माउथ वाश भी चाहिए।[10]

सामानों की सूची का क्या वह तो और भी लम्बी हो सकती है पर इतनी चीज़ों का ही बिल इतना लम्बा हो जाएगा, क्योंकि आप सभी विज्ञापित और

महँगें ब्राण्ड की वस्तुएँ खरीदना पसंद करेंगे। खरीद-फरोख़्त में सौन्दर्य-प्रसाधन वाली वस्तुएँ ही काफी है मनुष्यों को चमत्कृत करने के लिए, क्योंकि हर वस्तु चमकाने वाली ही होती है। हर महीने उसमें नए-नए उत्पाद जुड़ते चले जाते हैं। आप साबुन को ही ले लीजिए। एक में हल्की खुशबू आती है तो दूसरी में उससे तेज़। एक साबुन ऐसा है जो कि आपके मन को दिनभर तरो-ताजा ही बनाए रखेंगी, दूसरी पसीना को कम करेंगी, तीसरी साबुन ऐसी भी आएगी जो आपको जरासीम से रक्षा करती है। इतना बढ़ा-चढ़ाकर आपके सामने पेश किया जाएगा कि आप उसको खरीदे बिना रह ही नहीं सकते। ये देखिए सिने स्टार्स के सौन्दर्य का रहस्य, वे इसी साबुन को इस्तेमाल करते हैं। उनकी खूबसूरती का राज समझना चाहते हैं, आप अपने शरीर को पवित्र रखना चाहते हैं। यह आपके सामने पेश किया जा रहा है शुद्ध गंगाजल का साबुन। इस साबुन से आपकी चमड़ी मुलायम रखेंगी, हाँ ये थोड़ी महँगी जरूर है। पर सच मानिए आपकी त्वचा में निखार जरूर ला देगा। संभ्रांत महिलाओं की टेबल पर बीस-तीस हजार की सौन्दर्य-सामग्री होना तो मामूली बात है। पेरिस से परफ्यूम मँगाइए, इतना ही और खर्च हो जाएगा। ये प्रतिष्ठा चिह्न है, समाज में आपकी हैसियत जताते हैं।

पुरुष भी इस दौड़ में पीछे नहीं हैं। पहले उनका काम साबुन या तेल से चल जाता था। आफ्टर शेव और कोलोन बाद में आए। अब तो इस सूची में दर्जन-दो दर्जन चीज़ें और जुड़ गई हैं। छोड़िए इस सामग्री को। वस्तु और परिधान की दुनिया में आइए। जगह-जगह बुटीक खुल गए हैं, नए-नए डिजाइन परिधान बाजार में आ गए हैं। ये ट्रेण्डी और मँहगें भी। पिछले वर्ष के फ़ैशन इस वर्ष? शर्म की बात है। घड़ी पहले समय दिखाती थी। उससे यदि यहीं काम लेना हो तो चार-पाँच सौ में मिल जाएगी। हैसियत जताने के लिए आप पचास-साठ हजार से लाख-डेढ़ लाख की घड़ी भी ले सकते हैं। संगीत की समझ हो या नहीं, कीमती म्यूजिक सिस्टम जरूरी है। कोई बात नहीं यदि आप उसे ठीक तरफ से चला नहीं सकें। कंप्यूटर काम के लिए तो खरीदे ही जाते हैं, महज दिखावें के लिए उन्हें खरीदनेवालों की संख्या भी कम नहीं है। खाने के लिए पाँच-सितारा होटल हैं। वहाँ तो अब विवाह भी होने लगे हैं।

बीमार पड़ने पर पाँच-सितारा अस्तालों में जाइए। सुख-सुविधाओं और अच्छे इलाज के अतिरिक्त यह अनुभव काफी समय तक चर्चा का विषय भी रहेगा।

पढ़ाई के लिए पाँच-सितारा पब्लिक स्कूल है, शीघ्र ही शायद कालेज और यूनिवर्सिटीज भी बन जाएँ। भारत में तो यह स्थिति अभी नहीं आई पर अमरीका और यूरोप के कुछ देशों में आप मरने के पहले ही अंतिम संस्कार और अनंत विश्राम का प्रबंध भी कर सकते हैं - एक कीमत पर। आपकी कब्र के आस-पास सदा हरी घास होगीं मनचाहे फूल होंगे। चाहे तो वहाँ फव्वारें होंगे और मंद ध्वनि में निरंतर संगीत भी। कल भारत में भी यह संभव हो। अमरीका में आज जो हो रहा है, कल वह भारत में भी आ सकता है। प्रतिष्ठा के अनेक रूप होते हैं। चाहे वह हास्यास्पद ही क्यों न हों। यह है एक छोटी-सी झलक उपभोक्तावादी समाज की। यह विशिष्ट जन का समाज है पर सामान्य जन भी इसे ललचाई निगाहों से देखते हैं। उनकी दृष्टि में, एक विज्ञापन की भाषा में, यही है राइट च्वायस बेबी।[11]

अब अगर हम विषय के गंभीर पहलू की तरफ विचार करें तो एक बात का मुद्दा उठता है कि आखिर इस उपभोक्तावाद का विकास भारत में क्यों हो रहा है?

सामंती उपभोक्तावाद के तत्त्व भारत में पहले से ही विद्मान रहे हैं। उपभोक्तावाद से भारत सदैव ही जुड़ा रहा हैं। आज के दौर में सामंत बदल गए हैं, सामंती उपभोक्ता की कहावतें भी बदल गई हैं।

हम उपभोक्तावाद की कितनी ही बातें क्यों न कर लें; हमारी परम्पराओं का अवमूल्यन तो हुआ ही है, हमारी आस्थाओं का भी क्षरण हुआ ही है। जबकि कड़वी सच्चाई तो यह है कि हम सभी बौद्धिक दासता के अधीन होते जा रहे हैं, पश्चिमी सभ्यता को अपनाते जा रहे हैं और हम उन्हीं के उपनिवेश भी बन रहे हैं। हमारी नई संस्कृति अनुकरण की संस्कृति है। हम इस आधुनिकता के झूठे प्रतिमानों को बड़ी ही लगन के साथ अपनाते जा रहे हैं। हम अपनी इस अंधी प्रतिस्पद्र्धा में जो हमारे अपने हैं उन्हें खोकर हम दिखावें और छद्म आधुनिकता के प्रति अपने आप को गिरफ़्तार करते जा रहे हैं। इसका सिर्फ एक ही कारण हो सकता है कि हम अपनी संस्कृति की नियंत्रण शक्तियों के कमजोर पड़ जाने के कारण दिग्भ्रमित होते जा रहे हैं। हमारा अपना युवा समाज ही अन्य थपेड़ों मे पड़कर निर्देशित होता जा रहा है। विज्ञापनों और प्रसार के सूक्ष्म तंत्रों के द्वारा

हमारी मानसिकता में भी बदलाव होता जा रहा हैं। उनमें अपनी तरफ आकर्षित करने की शक्ति है, वशीकरण की भी।

अंततः इस संस्कृति के फैलाव का क्या परिणाम होगा? यह हम सभी के लिए विचारणीय तथ्य है। हमारे सीमित संसाधनों का ज्यादा से ज्यादा अपव्यय हो रहा है। किसी के भी जीवन की गुणवत्ता आलू के चिप्स से ही मात्र नहीं सुधारा जा सकता और न ही बहुत सारे विज्ञापित ठण्डे पेय-पदार्थों से। क्यों न वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही हों। पीज्जा और बर्गर क्यों न कितने ही आधुनिक हो जाएं, वे हैं तो मात्र कूड़ा खाद्य के ही रूप में। हमारे समाज में वर्गों के बीच बहुत ही बड़ा फ़ासला हो रहा है, सामाजिक सरोकारों में भी कमियाँ आ रही हैं। यह हमारे जीवन स्तर का बढ़ता अन्तर आक्रोश और अशांति को जन्म दे रहा है। जैसे-जैसे ही यह भावना हम सभी के मन में पनपेगीं, सामाजिक रूप से अशांति भी बढ़ेगी। निरतंर ही हमारी सांस्कृतिक अस्मिता का ह्रास होता जा रहा है, आज की युवा पीढ़ी अपने लक्ष्य से भटकते हुए नजर आ रही है। विकास के जो बड़े-बड़े उद्देश्य थे वे सब पीछे हटते नजर आ रहे हैं, हम अपने आपको झूठे ही तसल्ली दे रहे हैं और हम झूठी तुष्टि के क्षणिक लक्ष्यों का भी पीछा कर रहे हैं। हमारी अपनी मर्यादाएँ टूटती हुई नजर आ रही हैं, हमारे नैतिक मानदण्ड भी थोड़ा ढ़ीले पड़ते नजर आ रहे हैं। व्यक्ति की केंद्रीयता बढ़ने लगी हैं। स्वार्थ परमार्थ पर हावी हो रहा है। भोग-लिप्सा की आंकाक्षाएँ आसमान को छूती हुई नजर आ रही है। किस बिन्दु पर रुकेगी इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता हैं।

गाँधी जी ने कहा था कि हम स्वस्थ सांस्कृतिक प्रभावों के लिए अपने दरवाजे-खिड़की खुले रखें पर अपनी बुनियाद पर क़ायम रहें। उपभोक्ता संस्कृति हमारी सामाजिक नींव को ही हिला रही है। यह एक बड़ा खतरा है। भविष्य के लिए यह एक बड़ी चुनौती है।

भूमण्डलीकरण

भूमण्डलीकरण की चपेट में हर कोई आ गया है। सारा विश्व एक हो की कल्पना साकार करने में लगा हुआ है। प्रेमचंद जी इससे अछूते न थे। उन्होंने भी भरसक प्रयास किया था।

"पूँजीवाद की मृत्यु-कामना करते हुए कार्ल्स-मार्क्स ने 1848 में ही कम्युनिस्ट घोषणापत्र में इसके गुणों का बखान इस रूप में किया था - अपने उत्पादों के बाजार की तलाश बुर्जुआ को पूरे भूमण्डल में दौड़ाती है। इसे अपना नीड़ सर्वत्र बनाना है, इसे हर जगह बसना है, इसे अपना संबंध सर्वत्र फैलाना हैं।"[12]

भूमण्डलीकरण आज के दौर में भी सभी मनुष्यों को एक नया आयाम देने वाला है, भूमण्डलीकरण ने सबसे ज्यादा हताहत पुरुषवादी सामाजिक संरचना के भीतर काफी उथल-पुथल मचा दी हैं। भूमण्डलीकरण की अवधारणा में ही ऐसा द्वन्द्व है स्त्री का व्यापक विस्तार भी इस संरचना के भीतर द्वन्द्वात्मक रूप में हुआ है।

भूमण्डलीकरण ने आज संपूर्ण जगत को एक दूसरे के काफी निकट ला दिया है। इस भूमण्डलीकरण ने सबसे ज्यादा स्त्रियों को अग्रसर किया है। आज के दौर में स्त्री स्वतंत्र है, वह अपने सही और गलत के निर्णय को खुद ही कर पाने में सक्षम हो गई है।

हजारों वर्षों के पुरुषवादी मानसिकता के अधीन स्त्री-जाति उन्हीं पुरुषवादी अवधारणाओं और संस्कृति की संवाहिका बन जाती है, इसका सबसे अधिक फायदा बाजार उठाता है। 'द सेकेंड सेक्स' की लेखिका सीमोन द बोउवार ने कहा है कि - "स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि उसे बना दिया जाता हैं।" भूमण्डलीकरण में स्त्री को 'स्त्री' बनाने की प्रक्रिया बहुत रही हैं लेकिन इसी प्रक्रिया ने जाने अनजाने में ही स्त्री के अन्दर द्वन्द्वात्मक भावना को जन्म दे दिया है। जिसका दंश हर किसी को सहन करना पड़ ही रहा है।

एक बात तो बिल्कुल ही तय है कि पूँजीवाद ने भूमण्डलीकरण के माध्यम से 'अर्थ' की लालसा का विस्तार किया है। इसी 'लालसा' ने स्त्री की मुक्ति का एक अनजाना आधार रखा। "एक बहुत बड़े आर्थिक विस्तार की राजनीति में स्त्री को घर से बाहर निकालने और निकलने पर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने मजबूर किया समाज और खुद स्त्री को। एक ओर जहाँ औद्योगिक विकास के लिए स्त्री को सबसे सस्ते श्रम के रूप में इस्तेमाल किया गया, वहीं दूसरी ओर कारपोरेट जगत में विज्ञापन के माध्यम से स्त्री द्वारा उत्पादों को बेचने के लिए भोगपरक और परंपरावादी दृष्टिकोण बाजार ने अपनाया। एक ओर जहाँ भूमण्डलीकरण के ठेकेदारों के लिए विस्तार फायदेमंद रहा वहीं दूसरी ओर स्त्री का यह विस्तार अपनी जगह बनाने लगा, पुरुषवादी संरचना के भीतर।"[13]

भूमण्डलीकरण एक ऐसी पूँजीवादी प्रक्रिया में भी देखा जा रहा है, जिसके आगे राष्ट्रीय सरकारें जनहित के लिए कोई कदम उठाने में असमर्थ हो जाती हैं। वे अंतर्राष्ट्रीय बाजार के नियम और शर्तों में बँध जाती हैं। कुल मिलाकर तीसरे विश्व के देश भूमण्डलीकरण का राजनीतिक अर्थ यह लगाते हैं कि उसने विश्व व्यापार में भागीदारी बढ़ानी पड़ती हैं। विश्व के अमीर और शक्तिशाली देशों को, पर उनकी निर्भरता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि अन्ततः उनका देश राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से गुलाम हो जाता है।

विश्व के अनेक देशों में आर्थिक तथा राजनीतिक उलट-फेर की प्रक्रिया को जन्म देने वाले भूमण्डलीकरण की स्थापना और प्रचार के लिए कौन-कौन से तत्त्व उत्तरदायी हैं और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के वाहक हैं बहुराष्ट्रीय निगम। मुक्त बाजार, जहाँ देशों के बीच व्यापारिक प्रतिबंध न हों, पूँजी का विनिमय, वित्तीय और आर्थिक नियंत्रण के लिए गठित हुआ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई एम एफ इंटरनेशनल मानेटरी फण्ड), विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन (वर्ल्ड ट्रेड आर्गेनाइजेशन), बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, ब्रेटन वुड्स और 'गेट समझौते' भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। इन संस्थाओं के नाम पर कई रहस्यमयी धारणाएँ और मिथक जुड़े हुए हैं, इनके फैसले अटल होते हैं, जो इन्हीं के द्वारा पैदा किए गए बाजार नियमों से निर्देशित होते हैं। ये संस्थाएँ या निकाय विश्व के सभी देशों को ऐसे आर्थिक तंत्र में जकड़ने की कोशिश कर रहे हैं, जहाँ पूँजी का प्रत्यक्ष शासन चलता है। यही हमारे हिसाब से भूमण्डलीकरण हैं।

विश्वव्यापी प्रभुत्ववादी शक्तियाँ यानि वैश्वीकृत शक्तियाँ भूमण्डलीकरण को नए-नए अर्थों में, नए-नए स्वरूपों में गढ़कर तरह-तरह से उसकी विश्वसनीयता सिद्ध कर रही हैं, भूमण्डलीकरण को 'निर्बाध बाजार आधारित अर्थव्यवस्था' के रूप में प्रत्येक देश पर थोप रही हैं।[14]

भूमण्डलीकरण के विषय में अभय दुबे का कहना है कि - "आधुनिक भूमण्डलीकरण का पहला और प्रधान अर्थ है एक विश्व अर्थतंत्र और विश्व बाजार का निर्माण, जिससे प्रत्येक राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को अनिवार्य रूप से जुड़ना होगा। पहले गैट (जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ एण्ड ट्रेड्स) जरिए यह प्रक्रिया चलाई जा रही थी। अब इसकी जगह विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी ओ) ने ले ली हैं। "

इसका दूसरा मतलब यह है कि दुनिया की राजनीति को इसी अर्थतंत्र और बाजार की जरूरतों के हिसाब से संचालित करने की परियोजना। इस संचालन में बाँधा बन सकने वाले राष्ट्रों की स्वायत्तता और संप्रभुता से निपटने के लिए अमेरिका के नेतृत्व में यूरोपीय संघ और जापान का शक्तिशाली गठजोड़ कार्यरत है। चीन इस गठजोड़ का चौथा सदस्य बनने की तरफ बढ़ रहा हैं। यह गठजोड़ कई राष्ट्रातीत सांगठनिक संरचनाओं के माध्यम से काम करता है। इस गँठजोड़ में सदैव एकता ही नहीं रहती, मतभेद भी होते हैं। जिनकी अभिव्यक्ति आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक रूपों में अक्सर होती रहती है। यूरोपीय संघ नाफ्टा और एसियन व्यापार संघों का ताकतवार होना भी भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के लिए एक चुनौती के रूप में देखा जाता है। यूरो, डॉलर और अमेरिकी डॉलर द्वारा वर्चस्व के लिए आपसी संघर्ष एक अन्य उदाहरण के रूप में देखा जा सकता हैं। लेकिन अमेरिका की प्रबल भू-राजनीतिक केन्द्रीयता और एंग्लो-अमेरिकी कारपोरेट मॉडल का वर्चस्व इन मतभेदों के ऊपर हावी हो जाता हैं।

इसका तीसरा मतलब है कंप्यूटर, इंटरनेट और संचार के अन्य आधुनिकतम साधनों के जरिए दुनिया में राष्ट्रों, समुदायों, संस्कृतियों और व्यक्तियों के बीच फॉसले का क्रम से कमतर होते चले जाना।

इसका चौथा मतलब है उपग्रहीय टेलीविजन की मदद से एक भूमण्डलीय संस्कृति की रचना करना। राष्ट्रीय संस्कृति के केंद्र में नागरिक रहता था, पर इस संस्कृति के केन्द्र में भूमण्डलीय उपभोक्ता रहता है। इस भूमण्डलीय संस्कृति के

ऊपर अमेरिकी सांस्कृतिक मुहावरा बुरी तरह हावी हैं। इसलिए हेनरी किसिंजर ने बेखटके भूमण्डलीकरण को अमेरिकीकरण की संज्ञा दी हैं।

प्रेमचंद ने अपने युग में ही यह तय कर लिया था कि भूमण्डलीकरण के रूप में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अपने चरम पर पहुँच जाएगी और तब सारा जगत एक ही साँचे में ढ़ाल दिया जाएगा। जो इस साँचे में ढ़लने के लिए तैयार नहीं होंगे, उन्हें छँटनी के सिद्धांत के तहत नष्ट होने के लिए हाशिए पर फेंक दिया जाएगा। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर से पहले राष्ट्रों की सीमाबद्ध उपस्थिति के आइने में ही दुनिया को देखा जाता था। उस समय अंतर्राष्ट्रवाद एक उदात्त और रेडिकल विचार था, जिसमें एक समता और विविधितामूलक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सरीखी दुनिया बनाने की उम्मीदें निहित थीं। इसके उलट भूमण्डलीकरण के विचार को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। समझा जाता है कि इसके तहत दुनिया पर नई सत्ता-व्यवस्था थोपी जा रही है।[15]

"विश्व व्यापार संगठन अंतरष्ट्रीय व्यापार ही नहीं, देशों की आंतरिक नीतियों और नवजीवन के हर पहलू को नियंत्रित करने का औजार बन गया हैं। यह साम्राज्यवाद का सबसे नंगा और भयावह दौर है।"[16]

"विश्व स्तर पर पराराष्ट्रीय ताकतों के निरंतर बढ़ते वर्चस्व का आधार क्या है? वास्तव में दुनिया भर के संपन्न वर्गो की एकजुटता और रणनीति के अर्थ में वैश्वीकरण मजबूत होता जा रहा हैं।"[17]

आज पूरे विश्व में भूमण्डलीकरण का जो दौर चल रहा वह बहुत ही भयानक रूप से सामने आ रहा हैं। भूमण्डलीकरण ने इस पूरी दुनिया को एक जैसा करना चाहता है। इस भूमण्डलीकरण के दौर में सबसे ज्यादा स्त्रियाँ ही आगे आई हैं। मेरा मानना है कि - "जिस रूप में स्त्रियों को स्त्रीकरण के रूप में बदला जा रहा है वह आगे चलकर बहुत ही अच्छा भी साबित हो सकता है और कहीं-कहीं तो बहुत ही बुरा।" सबसे अधिक स्त्रियों को ही इस भूमण्डल पर फायदा भी हुआ है आज औरत को हर क्षेत्र में लाया गया है कहीं तो औरत को जहाँ एक तरफ बहुत बड़ी आजादी मिली है। तो औरत को इज्जत भी मिली है। पर आज की दुनिया में वहीं दूसरी तरफ ऐसी भी औरतें हैं जिन्हें भोग या लिप्सा का शिकार होना भी पड़ता है। कुछ औरतें तो अपने आप ही इस यौनाचार की दुनिया में

अपने-आप स्वेच्छा से झोंक देती है तो कुछ लाचारी और विवशता वश। "भूमण्डलीकरण ने औरतों को अतीत की किसी भी कालावधि के मुकाबले अधिक निर्ममता और संपूर्णता से एक बिकाऊ जिंस में बदल दिया है। यहाँ औरत को बिकाऊ माल में बदलकर केवल सौन्दर्य-उद्योग के संदर्भ में या आमतौर पर बाजार की आलोचना के नए पुराने मुहावरें के तौर पर नहीं बताया जा रहा है। दासप्रथा के दिनों से भी ज्यादा और सामंतवादी युग की व्यापकता को भी पीछे छोड़ते हुए भूमण्डलीकरण के पिछले दस वर्षों में दुनिया के पैमाने पर औरतों के निर्यात के जरिए अरबों-खरबों डालर की रकम कमाई गई है। निर्यात करने वाले देशों की प्रति व्यक्ति आय से आयात करने वाले देशों में प्रति व्यक्ति तकरीबन दुगनी हैं।"[18]

भूमण्डलीकरण की मूल परिभाषा उसके शब्दों से कम, उसके कार्यों से ज्यादा निहित है। जिसमें विश्व के बड़े विकसित पूँजीपति कहे जाने वाले देश सम्मिलित हैं, जिसका सरदार आज अमेरिका हैं।[19]

भूमण्डलीकरण मूलतः एक राजनीति है, जिसे पहले भी अपनाया गया था और आज उसका उपयोग विकास के नाम पर विकासशील और गरीब देशों के शोषण से जुड़ा हुआ है। भूमण्डलीकरण ने एक नई आर्थिक युद्ध नीति तय की है, जिसमें विकासशील और गरीब देशों का पिस जाना तय है। चाहे विकसित देशों द्वारा जरूरत से ज्यादा अपने किसानों को सब्सिडी देने की बात हो, चाहे मानवीय श्रम की उपेक्षा हो, चाहे उपभोक्तावादी दृष्टि हो, आदि कई नीतियाँ भूमण्डलीकरण के नाम पर विकासशील व गरीब देशों के खिलाफ षडयंत्र रचा जा रहा है।

भूमण्डलीकरण का विरोध होने का मूल कारण है गरीबी और विकासशील देशों की उपेक्षा, एक तरफा वर्चस्व और मानवीयता के प्रति गैर जिम्मेदाराना रुख। अगर इस नीति में विकासशील और गरीब देशों की स्थिति को ध्यान में रखकर, इन देशों के हिसाब से विकास के लिए, व्यापार के लिए बाजार की नीति तय की जाए तो भूमण्डलीकरण शब्द अपनी भूमिका मानवीय संदर्भों में पूरा कर सकता है।

वैसे आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य के रूप में वैश्विक आर्थिक राजनीति के हिसाब से देखा जाए तो भूमण्डलीकरण का वह स्वरूप, जिसे विकसित देशों ने अपने हिसाब से शुरू किया था, आज वह वैसा ही नहीं रह गया है। आज

विकासशील देशों की कंपनियाँ भी विकसित देशों की कंपनियों को टेकओवर कर रही हैं। भूमण्डलीकरण का फायदा अन्य विकासशील देशों को कई स्तरों पर मिल रहा है।

भारत की ओर ही देखें तो आज रोजगार के इतने अवसर, मध्यवर्ग में अचानक पूँजी का बढ़ता स्तरीकरण, धर्म और संप्रदाय की कट्टरता, स्त्री की पराधीनता, दलितों में पूँजी का आगमन आदि कई ऐसी समस्याएँ हैं जिनका पूर्ण तो नहीं, पर अपनी द्वन्द्वात्मकता में पूँजीवाद ने भूमण्डलीकरण से फैला हुआ पूँजीवाद किसी जाति, धर्म और वर्ग तक सीमित नहीं रह गया। इसमें सभी को मौका मिला है अपनी जगह बनाने का। इसके बावजूद ऐसी और समस्याएँ रह जाती हैं, जिसने भूमण्डलीकरण को और भी कठिन बना दिया है। साथ ही भूमण्डलीकरण की प्रकृति कितनी मानवीय बन पाएगी यह तो आने वाला समय ही इसे बता पाएगा। लेकिन" भूमण्डलीकरण को सिर्फ विकसित देशों का षडयंत्र मान लेना अब की परिस्थितियों में उतना उचित नहीं कहा जा सकता है। चूँकि इस स्थिति को बदलना अब एक यूटोपिया है यानि असंभव, इसलिए अब इसके भीतर से ही समस्याओं का निदान पाना होगा।"[20]

भूमण्डलीकरण की व्यवस्था को कार्य के स्तर पर बाजार द्वारा लागू किया जाता है। बाजार हर चीज़ को वस्तुपरक दृष्टिकोण से देखता है। चाहे वह संस्कृति, धर्म, भावना जैसी मानवीय चीज़ें ही क्यों न हों। बाजार भूख सिर्फ इसलिए पैदा करता है ताकि वस्तुओं का निरंतर बिक्री हो, इसके लिए वह कई प्रकार के हथकण्डे भी अपनाता ही है, जिसका सबसे ज्यादा असरदार रूप माध्यम विज्ञापन ही है। बाज़ार के लिए हर वस्तु ही बहुत उपयोगी है। उपयोग की यह नीति बाजार और भूमण्डलीकरण से होते हुए पूँजीपति वर्ग तक पहुँचती है जहाँ लोगों के पास पैसे की कोई कमी ही नहीं है, जो अपनी उपभोग की लालसा को निम्न वर्ग तक को भी लादना चाहता है। एक आम व्यक्ति को अपनी सीमा और जरूरत से ज्यादा चीज़ों का इस्तेमाल करवाने के लिए, मनोवैज्ञानिक रूप से बाजार कई तरह के हथकण्डों का इस्तेमाल करता है।

भूमण्डलीकरण के व्यापार में वस्तुओं का जिस तरह से आयात -निर्यात हो रहा है, उसमें स्त्री के प्रति पारंपरिक वस्तुवादी अवधारणा का इस्तेमाल किया गया,

जिसका सांस्कृतिक स्तर पर इसका फायदा पुरुषों को मिल रहा है। इन सब के बाद भी जिन संकेतों और संचार के माध्यम से बाजार ने उपभोक्तावादी समाज को बनाया और विस्तार दिया है। इसी संचार और संकेत ने स्त्री को अनचाहे ही सही, पर आधार जरूर दिया है।

भूमण्डलीकरण ने दुनिया की तस्वीर को अस्थिर किया है। तमाम मौलिक चीज़ें, मौलिक नहीं रहीं। भूमण्डलीकरण संपूर्ण विश्व को एक ग्राम में तब्दील करने की अवधारणा है। कोई सीमा नहीं। ऐसे भूमण्डलीकरण का प्रभाव भाषा के वैविध्य पर भी पड़ा है। जाहिर है कि जब भाषा की विविधता पर ही असर पड़ा है तो हमारी भारतीय भाषाएँ कैसे अछूती रह जाएगीं?

अगर हम सकारात्मक रूप से विचार करें तो हम कह सकते हैं कि अँग्रेजी की स्वीकार्यता और उसे जानने-समझने, उसका प्रयोग करने की जरूरत पहले की अपेक्षा बहुत ही ज्यादा बढ़ी है, इसके बावजूद भी हिन्दी-सहित अनेकों भारतीय भाषाएँ अपनी जगह पर कायम हैं। भाषाएँ इतनी आसानी से खत्म नहीं होती हैं। वे शताब्दियों से एक लम्बी प्रक्रिया के तहत विकसित होती हैं। भाषिक संस्कार इस कदर हमारे खून में व्याप्त होते हैं कि उनकी जड़ों को हिला पाना ही नहीं बल्कि असंभव ही होता है। किसी भाषा को बोलने वालों की संख्या घट सकती है, फिर भी वह भाषा किसी न किसी रूप में बरकरार ही रहती है। करीब दो सौ सालों का साम्राज्यवादी शासन भी भारतीय भाषाओं को नष्ट नहीं कर सका। इस बात को भूमण्डलीकरण के झंडावरदार भी अच्छी तरह से समझते भी हैं। संभवतः यही कारण है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी बड़े पैमाने पर अपने उतपादों के विज्ञापन न सिर्फ हिन्दी में तैयार करवा रही हैं, बल्कि उनमें क्षेत्रीय बोलियों को अपनाने पर जोर दे रही हैं फिर यह सच्चाई है कि भूमण्डलीकरण ने संवाद के कई नए रास्ते खोले हैं। इससे भाषा के मुद्रित स्वरूप पर जरूर आघात पहुँचा है, मगर कुल मिलाकर भाषा समृद्ध ही हुई है।

"बाजार ने अपनी जरूरतों को ध्यान में न रखकर हिन्दी जैसी भाषा को ज्यादा संप्रेषणीय बनाया है। इसने हिन्दी को नया रूप दिया है, नए शब्द दिए हैं, उसमें एक प्रवाह पैदा किया है। हिन्दी और गतिशील ही हुई है। इतना ही नहीं हिन्दी और सरलता की ओर अग्रसर है। जटिलता कम हुई है। इस कारण 'रसियन

चैनल' भी हिन्दी में प्रचार दिखाने लगे हैं।"[21] फिर भी हमारी भाषा के शब्दों को वैश्विक स्वीकृति मिल रही है। जैसे-इडली, डोसा, छोला-भटूरा, चटनी आदि शब्दों के अंग्रेजी शब्दकोषों में सम्मिलित किया जाना एक प्रकार की स्वीकृति है, जो भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप है।

फिर भी इस भूमण्डलीकरण के दौर में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जीवित रहने के लिए एक भाषा जरूरी है। एक भाषा इसलिए भी जरूरी हो गई है कि हम ऐसे समय में जी रहे है, जिसमें सारी समस्याएँ बिल्कुल एक हो गई हैं, साझा भी हो गई हैं। जिन चीजों का लाभ ले पाने में हमें संकट का अनुभव करने लगे थे, संचार की भाषा ने उससे भी मुक्ति दिलाई है।

फिर भी यह भी एक प्रकार का भ्रम ही है। सिक्के का दूसरा पहलू हिलाकर रख देने वाला है। भूमण्डलीकरण ने लगातार तीव्र होती आँधी ने भारतीय भाषाओं की बुनियाद ही हिला दी हैं। हमारी बोलियाँ कहीं अन्यत्र खोली जा रही है। नई पीढ़ियाँ भूमण्डलीकरण के अनुरूप अपने को ढ़ाल रही हैं। वह बोलियों को इसके उपयुक्त नहीं मानती। इसलिए उसने बोलियों से दूरी बना ली है।

क्योंकि भूमण्डलीकरण एकरूपता का हिमायती है, संपूर्ण विश्व एक ग्राम है, तो यह भी स्वाभाविक ही है कि भाषा पूरे विश्व का एक ही होगा। जब मानक भाषा एक ही होगी तो जाहिर सी बात है कि वह अंग्रेजी ही होगी, हिन्दी को मानक भाषा नहीं माना जाएगा। जिस प्रकार से एक राष्ट्र की भाषा के रूप में हमने हिन्दी को स्थापित किया। बोलियों को नहीं, ठीक इसी प्रकार से ही विश्व की भाषा के रूप में अंग्रेजी स्थापित होगी, हिन्दी नहीं।

भले ही विश्व के तमाम विश्वविद्यालयों में हिन्दी की पढ़ाई भी होती है, लेकिन उसका माध्यम अंग्रेजी ही होता है या फिर मानकीकृत हिन्दी में होती है, बोलियों वाली हिन्दी में नहीं, मानकीकृत हिन्दी में।

वास्तव में भूमण्डलीकरण आंचलिकता, क्षेत्रीयता, का प्रबल विरोधी है। ऐसे में देशज तत्वों पर संकट आना स्वाभाविक है। बोलियाँ भी देशज तत्व ही हैं। इसलिए सहज ही बोलियों पर भी खतरा मण्डरा रहा हैं। बहुत संभव है बोलियाँ समाप्त हो जाए, हाँ पर यह समाप्ति बहुत ही धीरे-धीरे हो सकती है। असल में भूमण्डलीकरण एक रास्ता लाता है। एक रास्ता, एक विश्व, एक व्यापार, एक

संस्कृति, सब कुछ एक। ऐसे में देश भर में जो एक भाषा रहेगी, वह रहेगी, बाकी समाप्त हो जाएगी। जो भाषा व्यापार के काम आएगी वही चलेगी, बाकी नष्ट हो जाएगी। फिर यह भी कि व्यापार की भाषा या बाजार की भाषा बनने के चक्कर में हिन्दी की मूल प्रकृत्ति नष्ट होगी। वर्तमान फिल्मी 'रिमिक्स' गानों की तरह हिन्दी भी रिमिक्स हो जाएगी। तब यह तय कर पाना मुश्किल होगा कि क्या हिन्दी का अपना है और क्या गैर।

नई पीढ़ी जो 'फण्डा' शब्द का प्रयोग धड़ल्ले से करती है वह 'लोक हंगामा' किया करती है यह पीढ़ी किसी से 'प्रेम', 'मुहब्बत' नहीं करती किसी को पटाती है। यह भूमण्डलीकरण का ही परिणाम है। विश्व स्तर पर जो नोबेल पुरस्कार दिया जाता है, उसके लिए भी उन्हीं कृतियों का चुनाव किया जाता है जो अंग्रेजी में हों या किसी भाषा के उसी कृति को पुरस्कृत किया जाता है जो अंग्रेजी में अनूदित हुई हो। इस तर्क से यदि हिन्दी की भी कोई कृति पुरस्कृत भी होगी तो वह भी अंग्रेजी में अनूदित हुई हो। इस तर्क से यदि हिन्दी की भी कोई कृति पुरस्कृत भी होगी तो वह भी अंग्रेजी में अनूदित कृति ही पुरस्कृत होगी, मूल हिन्दी की नहीं। ऐसी संभावना आने वाले युग में हो सकती है और जहाँ तक हिन्दी कृतियों के अनुवाद का प्रश्न है तो यह सर्वविदित है कि मानक हिन्दी कृतियों का ही अपेक्षानुरूप अनुवाद नहीं हो पा रहा है तो बोलियों की कृति यथा-ब्रजभाषा और अवधी आदि की कृतियों का अनुवाद फिर क्या होगा?

विश्व स्तर पर जब सलमान रूसदी, अरूंधति राय और विक्रम सेठ ही भारतीय लेखक माने जाते हैं, तो फिर हिन्दी और हिन्दी वालों को क्या कहा जाए। सोचने की बात यह है कि क्या भारतीय भाषाओं और बोलियों के लिए 'उजले दिन जरूर आएँगे'? या कि कवि एकांत श्रीवास्तव की इन पंक्तियों में व्यक्त भावनाओं की तरह हम खो देंगे अपनी बोलियों की पहचान और भाषाई अस्मिता -

"सिर्फ एक हस्ताक्षर कर दिया जाता है
और छिन जाती है हमारी आँखें,
कट जाते है हमारे हाथ।
सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है,

और खो देते हैं हम

अपना देश।"

भूमण्डलीकरण के माध्यम से पूरी दुनिया और मनुष्य जाति को एकाकार करने का स्वप्न पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। भूमण्डल के एक होने की आकाँक्षा का संबंध मनुष्य के सांस्कृतिक महा-स्वप्न से है। सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब मानने और बनाने का उदात्त भाव मनुष्य के अन्दर सदा से रहा है। इसी भावना के कारण आधुनिक समय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महाकवि के साथ कई दार्शनिकों, चिंतकों और लेखकों ने 'विश्व-मानववाद' और 'मानवधर्म' की संकल्पना को दुनिया के सामने रखा था। एक अलग अर्थ में देखें तो 'दुनिया के मजदूरों एक हो' अपने मूल अर्थ में कहीं-न-कहीं दुनिया के मनुष्यों के एक होने की संकल्पना को भी अन्तर्ध्वनित करता है। लेकिन यह भी सच ही है कि पूरी दुनिया इस आकांक्षित रूप में एक नहीं हो पाई है। इसके अपने अलग ठोस कारण हैं। पहली बात तो यह कि बिना ठोस 'अन्य' के ठोस 'हम' का संघटन नहीं हो सकता है। मनुष्य को 'अन्य' और 'अनन्य' दोनों ही चाहिए।

दूसरी बात बात यह भी है कि मनुष्य की सभ्यता इतनी वैविध्यपूर्ण है कि इसे किसी एक ही दायरे के समझ में लाना न तो बुद्धिमानी है और न ही संभव है। इस संदर्भ में 'भूमण्डलीकरण' के प्रस्ताव पर गौर करना चाहिए। देखना चाहिए कि भूमण्डलीकरण के आशय में क्या नया है? मूल बात यह है कि क्या भूमण्डलीकरण दुनिया की संपूर्ण मानवीय आबादी को अपनी परिधि में समेटता है? कहना न होगा कि इसका उत्तर नकारात्मक ही है। संक्षेप में यह कि भूमण्डलीकरण अपने मूल अर्थ में भूमण्डलीकरण है।

तात्पर्य यह है कि दुनिया और कुछ नहीं सिर्फ खरीदने-बेचने की जगह है। दुनिया में वे लोग फालतू के बोझ हैं जो 'बाजार से गुजरते हैं, मगर खरीददार नहीं होते हैं या दुनिया में रहते तो हैं लेकिन दुनिया के तलबगार नहीं होते हैं। भूमण्डलीकरण उन्हीं लोगों को अपने समूह में स्थान देना चाहता है जिसमें खरीदने और बेचने की क्षमता होती है। जिन लोगों में खरीदने-बेचने की जितनी क्षमता होती है। समूह यानि मण्डल में उनके लिए उतनी ही जगह होती है। यह सोचना भी सरासर भूल होगी कि अपने किसी भी निहितार्थ में भूमण्डलीकरण मनुष्य की

एकता की बात करता है। असल में भूमण्डलीकरण तो खरीदने बेचने में सक्षम लोगों के बीच में भी एकता का भ्रम ही फैलता है। अलग-अलग के बीच ही एकता का अर्थ बनता है।

भूमण्डलीकरण अपने आशय से भिन्नों की एकता की बात नहीं करता है, बल्कि अपनी परियोजना के अन्तिम चरण में भिन्नों के 'एक' में अन्तर्भुक्तीकरण का दुःस्वप्न देखता है। संपन्न लोगों के लिए भूमण्डल एक दो-पुराण, कल्पित देवलोक की तरह। "ऐसा देवलोक जहाँ चारों तरफ शुभ-ही-शुभ है। सौन्दर्य के शिखर पर अनवरत मधुर संगीत और परम शांति। इस एक का नाम साम्राज्यवाद हो सकता है। जो साम्राज्यवाद के मनोनुकूल नहीं है, उनके लिए तो तुमुल कोलाहल-कलह से घिरा अनेकशः खंडित और कुरूपताओं से भरा, प्रतिपल मृत्यु की ओर अग्रसर होने वाला पुराण-कल्पित यह मृत्युलोक है[22]

उत्तर उपनिवेश की राजनीति

उपनिवेश को समझ पाना आसान नहीं हैं, मेरे विचार से अगर उपनिवेश वहीं है जो बीसवीं सदी के मध्य में कई देश और सभ्यताओं ने इससे छुटकारा पाया था तो हम शायद इसे राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता की संरचना का नाम दे सकते हैं। यह उपनिवेश वहीं जो हमें लड़ने के लिए राष्ट्रवादी क्रांतियाँ की गई थीं और आत्म निर्भर अर्थव्यवस्था की अवधारणा पेश की गई थी तो शायद हम इसके विरुद्ध उपनिवेश को हटाने संबंधी प्रत्ययों की रचना आसानी से कर सकते थे। यही उपनिवेश के नाम से परिभाषित हो चुकी अंतरष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की अप्रत्यक्ष हुकूमत भी नहीं है। यह तो अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी, पितृसत्ता, इतरलिंगी यौन चुनाव और पुरुष-वर्चस्व की ज्ञानमीमांसा का उपनिवेश है जिसकी सीमाएँ मनोजगत से व्यवहार-जगत तक और राजसत्ता से परिवार तक फैली हैं।

अगर हम स्त्रियों के बारे में गौर करें तो हम यह पाते हैं कि स्त्री उपनिवेश के बीच में ही खड़ी है। जो प्रेमचंद के कथा-साहित्य में मुख्य-बिन्दु के रूप में इस पक्ष को अहमियत प्राप्त हुआ है। उपनिवेश के विरुद्ध स्त्री का संघर्ष उसका आत्म-संघर्ष है और यहीं स्थिति स्त्री को समझने की मुश्किलों का कारण बनी हुई। स्त्री मुक्ति-कामना के लिए निरन्तर छटपटा रही है। लेकिन उपनिवेश के वर्चस्व से उसका मनोजगत आज भी आक्रांत है। गुजरे जमाने के उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों की तरह औरत की दुनिया के सिपहसालार उपनिवेश के साथ हाथ भर वह अंतराल स्थापित नहीं एक पाए हैं जो कि इस लड़ाई की पहली शर्त है। 'उपनिवेश में स्त्री : मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ' इस अंतराल की दिशा में किया गया एक अनूठा प्रयास है। ये वार्ताएँ तो दफ्तर में काम करती हुई स्त्री, लिखती-रचती हुई स्त्री, बौद्धिक बनती हुई स्त्री, नारी के ज्ञान की मीमांसा करते हुए स्त्री, नियति के अंतर्द्वन्द्व में खड़ी हुई स्त्री और भाषा विमर्श के संजाल में फँसी हुई स्त्री से सब कुछ संबंधित है।

आजकल जो सबसे प्रबलतम मुद्दा है 'नारीवाद' जो दुनिया भर के लोगों को चौका दिया है। प्रेमचंद जी ने भी इस नारीवाद के मुद्दों को उठाया था। और नारी के सुधार हेतु काफी प्रयास भी किया। उस समय हमारे उत्तर भारत की

राजनीति चरम पर थी अंग्रेजों को देश से निकाले जाने के लिए भारतीय तरह-तरह की योजनाएँ बना रहे थे। उस समय अंग्रेजो के कारण हमारे देश की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो गई थी। इतना ही नहीं बल्कि हमारे यहाँ आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि तरह-तरह के संकट मंडराने लगे थे। हमारा देश आजादी के अंतिम चरण पर खड़ा था। हमारे यहाँ खाने-पीने की भी समस्या उत्पन्न हो गई थी। अंग्रेजों ने अपने लिए अलग नियम बनाए और हमारे लिए अलग इस प्रकार हमारे देश को काफी संकटों का सामना करना पड़ा। हमारे देश के नेताओं ने अपनी स्थिति के सुधार हेतु बहुत संघर्ष किया। उसी संघर्षो का परिणाम है जो आज हम खुली हवा में साँस ले रहे हैं। उस समय की राजनीति के नियम बहुत कड़े और नियमबद्ध थे। उत्तर भारत का निवेश कुछ भी नहीं होता था बल्कि हमारा ही सब कुछ लेकर हमारे ऊपर तानाशाही भी चलाते थे।

सन्दर्भ-सूची

1- प्रेमचंद १

2- बाजारवाद और जनतंत्र - प्रफुल्ल कोलख्यान ; पृष्ठ-22

3- शीर्षक : बाजारवाद और संविधान (हंस- मई 1991)

4- महाजनी सभ्यता-प्रेमचंद-हंस (शांति संस्कृति अंक;वर्ष 22 अंक 6-7,पृष्ठ-6)

5- महाजनी सभ्यता-प्रेमचंद-हंस (शांति संस्कृति अंक;वर्ष 22 अंक 6-7,पृष्ठ-6)

6- प्रेमचंद : विचारधारा और साहित्य : डॉ बालकृष्ण पाण्डेय ; पृष्ठ-28

7- महाजनी सभ्यता-प्रेमचंद-हंस (शांति संस्कृति अंक;वर्ष 22 अंक 6-7,पृष्ठ-6)

8-भारत : वर्तमान और भावी - रजनीपाम दत्त , पृष्ठ-79

9- आधुनिक भारत : सुमित सरकार ; पृष्ठ-57

10- बाजारवाद और जनतंत्र : प्रफुल्ल कोलख्यान ; पृष्ठ-16

11- समय और संस्कृति : श्यामाचरण दुबे ; पृष्ठ-172

12- समय और संस्कृति : श्यामाचरण दुबे ; पृष्ठ-173

13- भूमिका से : भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ ; सच्चिदानन्द सिन्हा

14- भूमण्डलीकरण और स्त्री : कुमार भास्कर ; पृष्ठ-7

15- भूमण्डलीकरण और मीडिया : कुमुद शर्मा ; पृष्ठ-17

16- भारत का भूमण्डलीकरण : अभय कुमार दुबे ; पृष्ठ-439-40

17- सामयिक वार्ता : अगस्त-सितम्बर ; पृष्ठ-6

18- सामयिक वार्ता : अगस्त-सितम्बर ; पृष्ठ- 18

19- भूमण्डलीकरण और स्त्री : कुमार भास्कर ; पृष्ठ-5

20- भूमण्डलीकरण और स्त्री : कुमार भास्कर ; पृष्ठ-6

21- परीक्षा मंथन सामान्य हिन्दी : डॉ. कुमार वीरेन्द्र ; पृष्ठ-9

22-बाजार और जनतंत्र : प्रफुल्ल कोलख्यान ; पृष्ठ-18

कमला

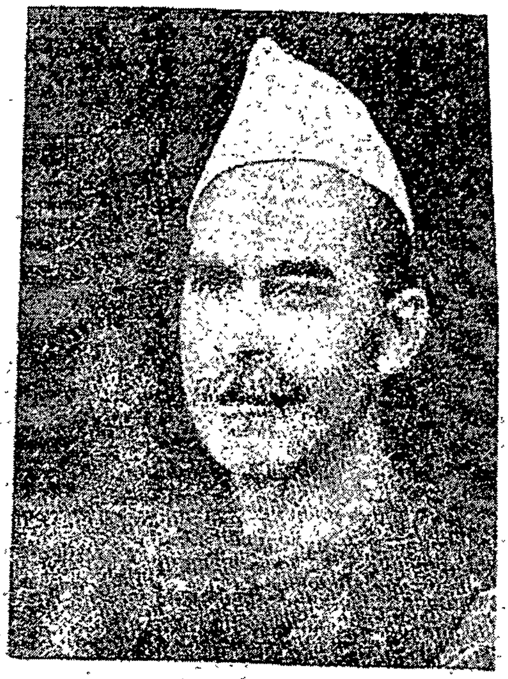

महताब राय

अमृत राय

श्रीपत राय